

शिक्षा और भारतीय लोकतंत्र

□ राजाराम भादू

स्वतंत्रता के तुरंत बाद देश के नव-निर्माण के साथ जोड़कर शिक्षा की जो परिकल्पना की जा रही थी, वह सामान्यतः समकालीन शिक्षा चिंतन का परिप्रेक्ष्य नहीं बनती। बल्कि ऐसा लगता है कि न सिर्फ राज्य ही अपनी नीति और प्रवृत्तियों में आजादी के बाद अपने प्रारंभिक शैक्षिक संकल्पों से विचलित होता गया है बल्कि राज्येतर शिक्षा-परिदृश्य में भी किसी दृढ़ सैद्धांतिक संकल्पशीलता और व्यापक सरोकारों का क्षरण दिखायी देता है। यहां 1951 में लिखी एक छोटी-सी किताब पर चर्चा की जा रही थी जिसमें 'नये भारत के लिए शिक्षा कैसी हो' इस सवाल पर गंभीर विचारणा की गई है। बेशक ऐसी विचारणा पर यह कोई अकेली किताब नहीं होगी और इस चिन्तन को यदि प्रस्थान-बिन्दु मानकर चला जाये तो लगेगा कि स्वतंत्रता के अर्धशताब्दी गुजरने के बाद भी जैसे हम प्रस्थान-बिन्दु के आसपास ही कदमताल कर रहे हैं।

'शिक्षा और भारतीय लोकतंत्र' कालूलाल श्रीमाली की 1951 में प्रकाशित पुस्तक है। इसे उदयपुर की विद्याभवन सोसायटी ने छापा था। पुस्तक की प्रस्तावना में बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी के वाइस चान्सलर आचार्य नरेन्द्रदेव ने लिखा है : "... शिक्षा प्रणाली के गठन में इसका भी ध्यान रखना होगा कि उसके द्वारा वर्तमान युग के नवीन सामाजिक मूल्यों की पुष्टि करें।" मात्र 135 पृष्ठ की इस पुस्तक के माध्यम से हम देख सकते हैं कि स्वतंत्रता के तत्काल बाद भारत में शिक्षा क्षेत्र के लोगों की चिन्ताएं क्या थीं, नये भारत के निर्माण में वे शिक्षा से क्या अपेक्षाएं रखते थे और किस प्रकार की शिक्षा प्रणाली की परिकल्पना लेकर चल रहे थे। यद्यपि यह पुस्तक उस चिंतन का एक उदाहरण भर है।

आरंभ में श्रीमाली जी भारतीय दर्शन में शिक्षा और ज्ञान के संदर्भ देखने का प्रयास करते हैं। वे यह मानकर चलते हैं कि शिक्षा पर समाज के मूल्यों का प्रभाव पड़ता है। वे भारतीय दर्शन में बुद्धि और अन्तर्ज्ञान के भेद का उल्लेख करते हुए कहते हैं, आध्यात्मिक ज्ञान चाहे अनुभूति को सत्य-प्राप्ति का साधन मानता रहे, व्यावहारिक जीवन में हमको इसकी कोई आवश्यकता नहीं मालूम होती कि हम बुद्धि व विज्ञान के रास्तों को छोड़कर किसी दूसरे रहस्यमय मार्ग से सत्य को प्राप्त करें। वे आगे कहते हैं, हम लोग पश्चिमी सभ्यता के आधार पर अपना लोकतंत्र कायम कर रहे हैं, अतः हमको यह विचार करना पड़ेगा कि हमारे दर्शन में जहां व्यक्ति का कोई अलग अस्तित्व नहीं है और पश्चिमी सभ्यता में जहां व्यक्ति ही सभ्यता की बुनियाद की इकाई है, कैसे मेल बैठेगा।

पुस्तक में प्रगति की विवेचना इस प्रकार की गयी है: "समाज की और व्यक्ति की उन्नति के तीन स्तर हैं। जाति की विरासत और

देन को उन्नत करना, आर्थिक तथा शिल्पकला सम्बन्धी उन्नति करना और इन दोनों को नैतिक तथा धार्मिक मूल्यों द्वारा नियंत्रित रखकर सामाजिक हित में उनका उपयोग करना। इसी का नाम प्रगति है।" प्रगति और सामाजिक पुनर्निर्माण को परस्पर जोड़कर देखा गया है और कहा गया है कि समाज का पुनर्निर्माण बिना जीवन मूल्यों के पुनर्निर्माण के नहीं हो सकता है। हमारा वास्तविकता के प्रति, व्यक्ति के प्रति और सांसारिक जीवन के प्रति जो दृष्टिकोण है उसको पुनः आंकने की आवश्यकता है।

इस परिप्रेक्ष्य में शिक्षा की बात शुरु होती है। श्रीमाली के अनुसार, शिक्षा संस्कृति की वाहक ही नहीं परन्तु संस्कृति की निर्माता भी है। शिक्षा द्वारा संस्कृति का पुनर्निर्माण होता रहता है। स्कूल समाज का एक अंग होना चाहिए। स्कूल समाज के स्वस्थ जीवन और दर्शन का प्रतिबिम्ब है। स्कूलों को यदि हम समाज से अलग रखें तो वे आधुनिक काल में निर्जीव और अप्रगतिशील हो जायेंगे और समाज का नेतृत्व करने का कर्तव्य पूरा नहीं कर सकेंगे।

ज्ञान-निर्माण की तत्कालीन प्रचलित प्रक्रिया पर टिप्पणी की गयी है ; "जो भी ज्ञान हमको पुस्तकों द्वारा मिलता है उसको हम ग्रहण कर लेते हैं परन्तु उस ज्ञान के प्रति संदेह तथा अनुसंधान की वृत्ति हममें कम है। हमको अपने विश्वासों की परीक्षा करने के लिए और उन्हें प्रमाणित करने के लिए तैयार रहना चाहिए।" आगे कहा गया है कि सत्य चाहे अर्थशास्त्र, साहित्य, राजनीति अथवा कला में हो, उसको प्राप्त करने की एक विधि है और वह है वैज्ञानिक विधि। और, वैज्ञानिक दृष्टिकोण बनाने में अध्यापक और स्कूल बहुत मदद कर सकते हैं।

शिक्षा के महत्व को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है ; समाज के हाथ में शिक्षा एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा वे विचार और आदर्श प्रचलित किये जाते हैं जिनको समाज महत्व देता है। लेकिन तत्कालीन संस्कृति के प्रति लेखक का जो रुख है वैसा बहुत से लोग आज भी व्यक्त करते नजर आते हैं। लिखा है, हमारी संस्कृति धन की संस्कृति बन गयी और प्रत्येक मनुष्य के जीवन में एक ही लक्ष्य बन गया और वह है अधिक से अधिक धन उपार्जन करना। इस कारण यह स्वाभाविक है कि व्यक्तिगत लाभ की यह आकांक्षाएं एक व्यक्तिवादी दर्शन और संस्कृति को जन्म दें। हमारे समाज में आज प्रतियोगिता और परिग्रह की जबर्दस्त प्रवृत्तियां मौजूद हैं। ध्यान रहे कि लेखक ने आजादी के तीन वर्ष बाद ही इस स्थिति को लक्षित किया है।

विज्ञान पर इस समय बहुत जोर है। इस बात पर चिन्ता व्यक्त की गयी है कि साधारण जन को विज्ञान से अभी तक कोई लाभ नहीं मिला। विज्ञान ने पुराने मूल्यों को तो नष्ट कर दिया है लेकिन नये मूल्यों की स्थापना नहीं की है। शिक्षा और संस्कृति के अन्तर्सम्बन्ध पर विचार करते हुए कहा गया है कि सच्ची संस्कृति का विकास जीवन के संघर्ष से होता है न कि जीवन व समाज से विमुख होने से। प्रारंभ से ही श्रम और संस्कृति का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। संस्कृति स्वतंत्रता के वातावरण में ही पनपती है। सभ्यता और उसके मूल्य चाहे कितने ही ऊंचे हों, यदि वे व्यक्तिगत रूप से अंगीकार नहीं किए जाते तो किसी काम के नहीं हैं। हमको अपने पुराने विचार, पुरानी रूढ़ियां, पुरानी सामाजिक संस्थाएं बदलनी पड़ेंगी और नये विचार, नयी प्रथाएं और नयी सामाजिक संस्थाएं कायम करनी पड़ेंगी। नये युग के लिए नयी संस्कृति बनाना शिक्षा का सर्वप्रथम काम है।

संस्कृति के तत्कालिक संक्रमण के कारणों के बारे में कहा गया है कि धर्म की ओर हमारा परिवर्तित दृष्टिकोण। दूसरी चुनौती लोगों के व्यवसाय में परिवर्तन के कारण। जब व्यावसायिक क्रांति ने भारत में पदार्पण किया तो उसने ग्राम्य संस्कृति को उखाड़ दिया, परन्तु उसके स्थान पर उन नये रहन-सहन के तरीकों और नयी आदतों का समावेश वह न कर पायी जो एक व्यावसायिक समाज के लिए आवश्यक है। स्वतंत्रता को तीसरा कारण बताया है जिसने हमारे जीवन मूल्यों को गड़बड़ में डाल दिया है।

समाज के सामने जो कठिनाइयाँ हैं। उन्हें श्रीमाली व्याख्यायित करते हैं कि हमको अपने विश्वासों, आदतों और चरित्र का पुनर्निर्माण करना है। अब तक लोग आज्ञापालन, अनुकरण या भावनावश मूल्यों को ग्रहण करते रहे हैं। अब जो मूल्य उन्हें ग्रहण करने हैं वे बुद्धिपूर्वक सोच समझ कर करने हैं। यह एक महान कार्य है और

इसका अर्थ है पूर्ण मानव का पुनर्शिक्षण। इस महान कार्य में आने वाली बाधाओं का भी जिक्र किया गया है : प्रतिक्रियावादी लोग साधारण जनता को यही कहकर भुलावे में डालते हैं कि उनकी संस्कृति संकट में है। ऐसे आन्दोलन ऊपर से सांस्कृतिक दिखाई पड़ते हैं परन्तु उनका आन्तरिक उद्देश्य होता है वर्ण भेद और विशिष्ट वर्ग को बनाये रखना तथा नवीन परिवर्तन का विरोध करना। ऐसे लोगों का शक्तिशाली दल है जो संस्कृति की आड़ में जातीय सिद्धान्तों पर समाज का संगठन करना चाहता है और अल्पसंख्यकों के विरुद्ध घृणा की भावनाएं फैलाता है। उनकी विचारधारा, अर्ध सैन्य संगठन और विचित्र सांस्कृतिक दृष्टिकोण को लेकर, जर्मनी के नाजी आन्दोलन के समान है।

पुस्तक में लोगों की उदासीनता को लेकर गहरी चिन्ता जतायी गयी है : हमारे देश में जनसाधारण को सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं का कुछ भी ज्ञान नहीं है। उनको तो अपने जीवन निर्वाह का साधन मिल जाना चाहिए। उसके बाद कोई भी राज्य करे इसकी उनको कोई चिन्ता नहीं। यह स्थिति भयावह है और तानाशाही के पनपने के लिए उपयुक्त भूमि तैयार करती है। साथ ही कहा गया है कि यदि हम अपनी पूरी शक्ति लगा दें तो यह संकटकाल महान सामाजिक पुनर्निर्माण का काल सिद्ध हो सकता है।

लोकतंत्र की प्रकृति की चर्चा करते हुए कहा गया है : सामान्य जन शिक्षित हो, समस्याओं की वस्तुस्थिति समझे और अपने आप निर्णय करे। इसके लिए उसे विचार स्वातंत्र्य की सुविधा हो और वह राज्य तथा समाज की निर्भय आलोचना कर सके। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जनतंत्र के दुश्मन वे लोग हैं जो जनतंत्र के नाम से विरोधी विचारों को तथा मतभेदों को दबाने का प्रयत्न करते हैं। यह साफ किया गया है कि जनतंत्र खाली नारे लगाने से ही नहीं बचेगा लेकिन उसके पीछे ठोस काम होना चाहिए।

पुस्तक में आगे राज्य और शिक्षा के सम्बन्ध पर विचार करते हुए दूसरे देशों का संदर्भ दिया गया है। अन्य देशों के राज्यों ने शिक्षा को अपना कर्तव्य समझ रखा है। स्काटलैंड ने 1696 में, डेनमार्क ने 1814 में, प्रशिया ने 1816 में, स्विटजरलैंड ने 1830 में, स्वीडन ने 1842 में और इंग्लैंड ने 1876 में जनता के लिए अनिवार्य शिक्षा को प्रारंभ किया। भारत वर्ष को भी अब स्वतंत्र होने पर अनिवार्य शिक्षा की जिम्मेदारी उठानी पड़ेगी।

इसके बाद इस प्रश्न पर चिंतन है कि किस हद तक शिक्षा को राज्य अपने अधीन रखे तथा किस हद तक उसको स्वतंत्रता दे। राज्य जैसे होने चाहिए और राज्य जैसे हैं उसमें बहुत बड़ा अन्तर है। आधुनिक राज्य सारे समाज की भलाई की चिन्ता नहीं करते लेकिन किसी वर्ग-विशेष के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। किसी भी राज्य ने कभी अपनी इच्छा से शिक्षा का प्रचार नहीं

किया। साधारण जन को शिक्षा नहीं मिल सकती है, जब तक कि पूंजीवादी समाज का ढांचा न बदले और पूंजीवादी समाज का ढांचा कैसे बदल सकता है जब तक कि शिक्षित समाज उसकी मांग न करे। शिक्षा स्वयं एक बहुत बड़ी शक्ति है, जो इस समाज का परिवर्तन करने में और मनुष्य के अर्थ सम्बन्धी ढांचों को बदलने में सहायक हो सकती है।

शिक्षा अपना समाज निर्माण का काम निरन्तर करती रहे इसके लिए यह आवश्यकता है कि शिक्षा का अन्तिम अधिकार राज्य के हाथ में न रहकर समाज के हाथ में रहे। राज्य के हाथ में जब शिक्षा का पूरा अधिकार हो जाता है तो हमेशा यह खतरा रहता है कि शिक्षा द्वारा हरेक व्यक्ति को एक ही सांचे में ढाले जाये। जहां शिक्षा पर राज्य ने पूर्ण अधिकार कर लिया है वहां हमने वही परिणाम होते देखा है। शिक्षा के सारे वातावरण को इस तरह से नियंत्रित किया जाता है कि उसमें व्यक्ति को स्वयं विचारने का कोई मौका नहीं मिलता। स्कूल का पाठ्यक्रम, पाठ्यपुस्तकें और स्कूल की शिक्षा का सारा वातावरण इस तरह से बनाया जाता है कि शासकों के विचार ही बालकों पर थोप दिये जाते हैं। पाठ्यक्रम में, पढाई के तरीकों में, पुस्तकों के चुनाव में और स्कूल के अन्य कार्यक्रम में यदि राज्य दखल देता है और शिक्षा को बिल्कुल फौजी पद्धति से चलाने की कोशिश करता है तो शिक्षा बिल्कुल पंगु बन जाती है।

इसका मतलब यह नहीं है कि राज्य को शिक्षा में कुछ नहीं करना है। राज्य का शिक्षा में बड़ा महत्वपूर्ण काम है और वह है शिक्षा की ऐसी व्यवस्था करना कि जिसमें समाज के सभी अंगों और व्यक्तियों को बराबर विकास करने का मौका मिले। इसके अलावा समाज की उन्नति के लिए शिक्षा की योजनाएं बनाना और उसको कार्यरूप में परिणत करने के लिए साधन जुटाना भी राज्य का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। राज्य को चाहिए कि इस बात की भी निगरानी रखे कि शिक्षा में ऐसे तरीके काम में न लिए जाये जाएं जो समाज में वैमनस्य तथा कलह पैदा करते हैं। यदि शिक्षा में ऐसी असामाजिक प्रवृत्तियां मौजूद हों तो राज्य का कर्तव्य है कि वह उनको निर्मूल करने की चेष्टा करे। परन्तु यह हमको ध्यान में रखना चाहिए कि जनतंत्र के लिए यदि हम शिक्षा देना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि शिक्षा में परिवर्तनशील प्रगतिगामी प्रयोग भी हों।

स्कूल की परिकल्पना को लेकर श्रीमाली कहते हैं, बालक अपनी शिक्षा केवल पुस्तकों या प्रवचनों से ही नहीं प्राप्त करेगा परन्तु उन सब परिस्थितियों तथा स्थानों से भी सीखेगा जहां स्त्री और पुरुष साथ मिलकर कार्य करते हैं और अनुभव प्राप्त करते हैं। ये तरीके काम में लाये जायेंगे तभी सारा समाज अपने आपको शिक्षित कर सकेगा। स्कूल जीवन का प्रतिबिम्ब हो जायेगा और

समाज स्कूल के सदृश हो जायेगा। समाज के किसी अंग में परिवर्तन होने पर उसका असर स्कूल पर पड़ेगा।

शिक्षा सिद्धान्त पर विचार करते हुए लिखा गया है कि शिक्षा सिद्धान्त में प्रायः दो विपरीत मत हमको दिखलाई देते हैं। एक जो यह समझता है कि शिक्षा का मकसद है मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करना। इसके विपरीत दूसरा मत यह है कि राज्य का विकास ही हमारा अंतिम लक्ष्य है और जितना व्यक्ति की क्रियाएं हैं वे राज्य की उन्नति के लिए होनी चाहिए। इन मतों पर विवेचना में श्रीमाली कहते हैं कि मनुष्य का प्रायः “कई समूहों के साथ सम्बन्ध होता है। समाज में जितनी ही स्वतंत्रता और लचीलापन रहेगा उसी हद तक मनुष्य अपने मूल्यों को स्वतंत्रता से स्वीकार करेगा और जिस हद तक फौजी तरीके से समाज का संगठन होगा उसी हद मनुष्य अपनी स्वतंत्रता खोयेगा। समूह के जितने भी गुण हैं वे सब वास्तव में व्यक्तियों के गुण हैं।”

वे आगे कहते हैं कि स्कूल की तथा अध्यापक की भक्ति किसी राजनैतिक व्यक्ति या संगठन के प्रति नहीं होगी बल्कि उन बच्चों के प्रति होगी जो उसके जिम्मे छोड़े गये हैं। यदि शिक्षा द्वारा समाज का पुनर्गठन होना है तो शिक्षा में स्वतंत्रता होना अनिवार्य है। शिक्षा स्वतंत्रता के वातावरण में निर्माण का काम करती रहे इसके लिए यह आवश्यक है कि नौकरशाही का तथा पूंजीवाद का जो शिक्षा पर प्रभाव है उससे वह स्वतंत्र हो। पूंजीपति शिक्षा पर तरह तरह से प्रभाव डालते हैं। वे धन देकर स्कूलों पर ही अपना आधिपत्य नहीं जमाते हैं परन्तु प्रतियोगिता तथा मुनाफे के मूल्य शिक्षा व समाज में साथ रखकर शिक्षकों का तथा बालकों का नैतिक पतन कराते हैं।

शिक्षा और राजनीति के सम्बन्ध को लेकर भी दो विपरीत मतों की पुस्तक में चर्चा की गयी है। एक मत यह है कि शिक्षा का राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। जिस हद तक स्कूल समाज के झगड़ों में पड़ता है, उसी हद तक वह अपना विशेष काम छोड़ देता है। शिक्षा का यह काम नहीं है कि बदलते हुए समाज की तरफ बच्चों का ध्यान आकर्षित करे। उसका काम तो केवल इतना ही है कि जो चिरस्थायी मूल्य हैं और जो परिवर्तनशील समाज से प्रभावित नहीं होते हैं, उनकी शिक्षा बालकों को दें।

दूसरी विचारधारा यह है कि शिक्षा केवल राजनीति का एक साधन है। स्कूल राज्य का एक साधन मात्र है। बाहर की सत्ता (राजनीति) शिक्षा सम्बन्धी छोटी से छोटी वस्तु जैसे पाठ्यक्रम तथा पाठ्यपुस्तकें निर्धारित करती है। जो राजनीतिक दल सत्ता ग्रहण करता है वही अपने आदर्शों और दृष्टिकोण के अनुकूल शिक्षा का संचालन करता है।

श्रीमाली की मान्यता के अनुसार, बालक में बिना विवेक तथा ज्ञान के किसी आदर्श को भरना उसमें गुलामी पैदा करना है और उसकी बुद्धि को कुंठित करना है। बालक जो भी आदर्श स्वीकार करे और मूल्य अंगीकार करे, बुद्धि से सोच समझ कर करे। ऐसा होने पर ही समाज की प्रगति बराबर होती रहती है वरना उसमें जड़ता आ जाती है। शिक्षा किसी राजनीतिक दल विशेष की विचार वाहक नहीं हो जाय जिससे वह सामाजिक प्रगति को बिल्कुल ही रोक दे, यह देखना होगा। शिक्षा का यह कर्तव्य है कि उन सब शक्तियों का विरोध करे जो जनतंत्र को दबाने का प्रयत्न करती हैं। अनिवार्य शिक्षा के संदर्भ में कहा गया है कि जिन जिन देशों में अनिवार्य शिक्षा का प्रयोग किया गया है वहां प्रायः यह पाया गया है कि माता पिता अनिवार्य शिक्षा की अवधि समाप्त होते ही अपने बच्चों को स्कूल से छुड़ा लेते हैं और उनको काम में लगा देते हैं। हमारे देश के बच्चे हमारे कौटुम्बिक आर्थिक जीवन के आवश्यक अंग हैं। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि अभी तक हमारी शालाओं का उपयोग उन लोगों ने किया है जिनके पास अवकाश तथा पर्याप्त धन है जिससे वे अपने बच्चों का शिक्षा-काल में अच्छी तरह पालन-पोषण कर सकते हैं। हमारे देश में अनिवार्य शिक्षा हो जाने पर भी जब तक आर्थिक असमानता रहेगी, शिक्षा में सबको समान अवसर मिलना असंभव है।

शिक्षा की उपादेयता के प्रश्न पर श्रीमाली कहते हैं, “यह अवश्य है कि शिक्षा अधिक भूमि तथा कच्चा माल नहीं पैदा कर सकती परन्तु वह इन्हीं वस्तुओं को अधिक उत्पादक और मूल्यवान बना सकती है।” गरीबों की शैक्षिक उपेक्षा का जिक्र करते हुए वे कहते हैं कि यदि उनके लिए शिक्षा का प्रबंध भी किया जाता है तो उसका पाठ्यक्रम अधिकतर व्यावहारिक तथा व्यावसायिक ज्ञान के लिए होता है, न कि ज्ञान वृद्धि के लिए। राज्य के खर्चे पर सार्वलौकिक शिक्षा का जो आन्दोलन प्रारंभ हुआ उस में बहुत बड़ा हाथ मध्यम वर्ग का था। सार्वलौकिक शिक्षा का लाभ भी अधिकतर मध्यमवर्ग के लोगों ने ही उठाया।

पूँजीवादी प्रणाली के शिक्षा उपक्रम के बारे में श्रीमाली की राय है कि उसमें ‘विद्यार्थी’ को इस बात का सन्तोष नहीं होता कि उसकी प्रगति भली प्रकार हो रही है, वरन उसको प्रसन्नता इसमें होती है कि वह दूसरों को हटा कर आगे बढ़ रहा है। उनके अनुसार अर्थ व्यवस्था का शिक्षा पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। शिक्षा का यह कर्तव्य हो जाता है कि आजकल की अर्थव्यवस्था का, जिसमें लोगों को समान अवसर नहीं मिलता है, विरोध करे और उसको बदलने में प्रयत्नशील रहे। शिक्षा प्रगतिशील होती है। वह समाज को और उसकी अर्थव्यवस्था को बराबर आंकती रहती है। ‘भारतीय स्कूलों में शिक्षा स्वातंत्र्य’ नामक अध्याय में आह्वान किया गया है, “हम शिक्षा को पुनः स्वतंत्र बनाएं अर्थात् शिक्षकों और शिक्षार्थियों को पढ़ने पढ़ाने की स्वतंत्रता हो। इसका प्रजातंत्र से घनिष्ठ संबंध है। स्वतंत्रता के वातावरण में ही बुद्धिपूर्वक कार्य करने की आदतें विकसित हो सकती हैं।”

यदि शिक्षण संस्थाओं के जनतंत्र को सुरक्षित रखना है तो हमें देखना होगा कि शिक्षकों के वे कौन से अधिकार हैं जिनकी उन्हें रक्षा करनी है और समाज को जिन्हें पोषण देना है। मतभेद पूर्ण विषयों पर तर्क-वितर्क करना और विद्यार्थियों के सम्मुख अपना दृष्टिकोण रखना शिक्षक का विशेषाधिकार है। शिक्षक का यह कर्तव्य है कि वह स्वतंत्रता पूर्वक महत्वपूर्ण सामाजिक समस्याओं पर विचार करे ताकि विद्यार्थी

भी उनसे अवगत हो जायें और उनको जनतांत्रिक ढंग से सुलझाना सीखें। जनतंत्र के मूलभूत सिद्धान्तों में ही हमारे शिक्षकों के इस अधिकार का नैतिक आधार निहित है।

अनेक ऐसे सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और आर्थिक संगठन हैं जो शिक्षक की स्वतंत्रता को नियंत्रित करना चाहते हैं। समाज को चाहिए कि उनकी हर प्रकार के दबाव से रक्षा करे और पूर्ण स्वतंत्रता के वातावरण में उन्हें शिक्षा का कार्य करने का अवसर दे।

इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि शिक्षकों का कोई उत्तरदायित्व नहीं है। जिस प्रकार का जनतंत्र है उसी के अनुरूप उनके अधिकार और कर्तव्य तथा स्वतंत्रता और अनुशासन होंगे।

वहीं प्रयोगशील स्कूलों की तरफदारी करते हुए श्रीमाली का कहना है, जो स्कूल प्रयोग कर रहे हैं उनको राज्य की तरफ से अधिकाधिक सहायता मिलनी चाहिए तथा उन पर कम से कम नियंत्रण होना चाहिए। साथ ही यह भी कहा है, उनको स्वतंत्रता इसलिए नहीं होनी चाहिए कि वे अपने विशेष अधिकारों को सुरक्षित रख सकें परन्तु इसलिए कि वे शिक्षा में ऐसे प्रयोग कर सकें जिनसे जन साधारण की शिक्षा को लाभ पहुंचे। किन्तु पब्लिक स्कूलों के प्रति लेखक का दृष्टिकोण नकारात्मक है। उनका मानना है कि इनसे जो लड़के निकल कर समाज में जाते हैं उनको अपनी ही संस्कृति के प्रति घृणा होती है।

शिक्षक की राजनैतिक प्रतिबद्धता पर पुस्तक में कई जगह चर्चा की गयी है। इस अध्याय में कहा गया है, साम्यवादी दल या फासिस्ट दल का सदस्य होने से ही कोई अच्छा शिक्षक न बन सके यह बात निराधार है। जितने भी अपने से विरोधी वाद तथा दर्शन हैं उनके समक्ष अपनी शक्ति का खुले रूप से अनुमान लगाने के लिए जनतंत्र को तैयार रहना है और इस कारण असफल भी होना पड़े तो इस संकट को सहना है।

‘नये समाज में शिक्षक का स्थान’ शीर्षक अध्याय में तत्कालीन स्थिति का विवरण इस प्रकार है : “एक तरफ व्यक्तिवाद के आधार पर बना हुआ समाज है कि जहां शिक्षक मनमानी करता है ; जैसी पाठ्यपुस्तक वह चाहता है पढ़ाता है, मनमानी पद्धति का अनुकरण करता है और उस पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध समाज तथा राज्य का नहीं है । दूसरी तरफ तानाशाही समाज है जहां पाठ्यपुस्तक, पाठ्यक्रम और पाठ्यविधि, सभी केन्द्रीय सत्ता से निर्धारित होते हैं। शिक्षक को कोई अधिकार नहीं है कि वह निश्चित मार्ग से जरा भी इधर उधर हो। उसके सामने राज्य का एक निश्चित आदर्श रख दिया जाता है और सब साधन उसी के अनुकूल बना दिये जाते हैं।”

इस स्थिति की आलोचना करते हुए लेखक कहता है, शिक्षा का काम है कि सत्य की निरंतर खोज करे और खोज के जो भी निष्कर्ष हों उन्हें समाज के सामने रखे। लोकतंत्र का सार यही है कि स्वतंत्रतापूर्वक उन सब मसलों पर वाद-विवाद और विचार-विमर्श होता रहे जिनका असर हम पर, हमारे धर्मों पर, हमारे धर्म-संगठन पर, हमारे पास-पड़ोस पर और कुटुम्ब पर पड़ता है। लोकतंत्र भिन्न मत को तथा विरोध को स्वीकार करता है, उसको कभी दबाता नहीं।

शिक्षक की राजनैतिक प्रतिबद्धता पर इस अध्याय में कहा गया है : “जो अध्यापक किसी भी राजनैतिक उद्देश्य के लिए सत्य को तोड़ता-मोड़ता है वह लोकतांत्रिक आदर्श के साथ विश्वासघात करता है फिर चाहे उसका लक्ष्य कुछ भी हो। लोकतंत्र में शिक्षार्थी को यह स्वतंत्रता होनी चाहिए कि वह सत्य की खोज करे और उसको प्रदर्शित करे। चाहे वह कितना भी कटु हो और स्थित मूल्यों के कितना ही प्रतिकूल हो। अध्यापक वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करे और उसे निर्भयता से, बिना किसी पक्षपात के, समाज के सामने रखे। अध्ययन और अध्यापक की स्वतंत्रता राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए अनिवार्य है शिक्षक को विचारने की और अध्यापन की स्वतंत्रता सुरक्षित रहे।”

आगे कहा गया है, शिक्षा निरन्तर अच्छे मूल्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करती रहती है। इससे यह स्पष्ट है कि शिक्षा जीवन में

मूल्यों के प्रति उदासीन नहीं हो सकती। आजकल जो समाज की दुर्दशा है उसका मुख्य कारण यही है कि समाज में जीवन के अच्छे मूल्यों के प्रति उदासीनता है। नवीन शिक्षा का सबसे बड़ा काम यह है कि मनुष्य में जीवन के सद् मूल्यों के प्रति चेतना जाग्रत करे, जिसके फलस्वरूप उन मूल्यों की प्राप्ति के लिए लोग सजग और सक्रिय रूप से बराबर प्रयत्न करते रहें। ऐसा करने पर ही लोकतंत्र प्रगतिशील हो सकता है और समाज का निरन्तर पुनर्निर्माण हो सकता है। शिक्षक को यह स्पष्ट मालूम होना चाहिए कि चाहे वह इतिहास, विज्ञान, भूगोल, गणित पढ़ाये या लकड़ी का काम सिखाए; उसका प्रधान काम है जीवन के मूल्यों के प्रति आस्था और विश्वास पैदा करना।

यह आश्चर्यजनक है कि देश की आजादी के तीन साल के दौरान ही विद्यालय-महाविद्यालय के छात्र-आन्दोलनों ने शिक्षाजगत को चिंता में डाल दिया। पुस्तक में इस समस्या पर एक अध्याय है। इसके शुरू में ही कहा गया है : यदि अधिकारी कोई अनुशासनात्मक कार्यवाही करते हैं तो विद्यार्थी हड़ताल करते हैं और कभी-कभी तो सीधा आक्रमण करने और अहिंसात्मक तरीकों को भी अपनाने से नहीं चूकते। अधिकारियों और विद्यार्थियों में अनेक बार ऐसी खुली टक्करें हुई हैं जब पुलिस को लाठी या गोली चलानी पड़ी है।

समस्या पर विचार करते हुए लिखा है कि किसी समाज के युवकों के आदर्श और मनोवृत्तियां उसी समाज की भावनाओं और मानसिक चेतना द्वारा निर्मित होती हैं। अतः विद्यार्थियों पर दोषारोपण करने के पूर्व यह उचित होगा कि हम समाज में उन राजनैतिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक कारणों का अध्ययन और परीक्षण करें, जिनके फलस्वरूप यह असंतुलित स्थिति उत्पन्न हुई है।

आजादी से युवावर्ग का मोहभंग भी आगे के विवरण से प्रमाणित हो जाता है। वे (युवा) देख रहे हैं कि वे ही लोग जो जनता की गरीबी, अशिक्षा और रूग्णावस्था जैसे सामाजिक दोषों का विरोध करने में अग्रगामी थे; आज अपने वचनों को ही नहीं भूले हैं वरन् उन सब निहित स्वार्थों का खुले रूप में साथ दे रहे हैं जो जनसाधारण के शोषण पर ही स्थित हैं। समाज में चारों ओर भ्रष्टाचार और काला बाजार फैला हुआ है। शिक्षा समितियों में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने, पाठ्यपुस्तकें चुनने और परीक्षकों की नियुक्ति में बच्चों के हितों को शिक्षकों के आर्थिक स्वार्थ द्वारा कुचल दिया जाता है। भविष्य का अंधकार, नौकरी न मिलने या ठीक प्रकार की न मिलने का भय उन की चिंताओं में वृद्धि का कारण बनता है।

युवकों की इस मनःस्थिति के लिए लेखक परीक्षा-प्रणाली को भी दोषी ठहराता है : परीक्षा में अंकों द्वारा केवल स्मरण शक्ति की योग्यता को आंकना युवक की उस प्रयोगात्मक शक्ति को नष्ट कर देता है जिसके द्वारा वह नवीन कार्य करना चाहता है, जिसके कारण उसमें नवीन रूचि जागृत होती है और जिसके फलस्वरूप वह नवीन ज्ञान प्राप्त करता है।

समस्या पर विवेचन के बाद भी लेखक विद्यालय में बच्चों को शारीरिक दण्ड देने व कड़ा अनुशासन रखने का विरोध करता है और शिक्षक व बच्चों के आत्मीय सम्बन्धों पर जोर देता है।

पुस्तक में दो विचारधाराओं को खतरे के रूप में देखा गया है जो हिंसा द्वारा समाज को बदलना चाहती हैं। एक साम्यवाद है और दूसरा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ। राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ की विचारधारा का प्रसंग पहले आ चुका है। पुस्तक के एक अध्याय में लेखक साम्यवादी विचारधारा का सार प्रस्तुत करते हुए इस नतीजे पर पहुंचता है कि लोकतंत्र को सफल बनाने के लिए केवल राजनैतिक स्वतंत्रता ही काफी नहीं है वरन् आर्थिक स्वतंत्रता भी आवश्यक है। जहां व्यक्ति को मनमाने रूप से प्राकृतिक सम्पत्ति के उपयोग करने का अधिकार हो, उसमें चाहे जनसाधारण का अहित भी, लोकतंत्र के मूल सिद्धान्तों के प्रतिकूल पड़ता है।

निष्कर्ष के रूप में लेखक कहता है कि लोकतंत्र को अधिक लोकतांत्रिक होने की आवश्यकता है। हमको चाहिए कि हमारे स्कूलों और कॉलेजों में मार्क्सवाद का अध्ययन अच्छी तरह से हो ... जिससे तुलनात्मक रूप से हमको लोकतंत्र की अच्छी और बुरी बातें, उसकी सफलता और विफलता, उसकी निर्बलता और शक्ति दोनों ही पक्षों का ज्ञान हो सके।

शिक्षक की भूमिका पर और विचार करते हुए श्रीमाली आवश्यकता बताते हैं कि शिक्षक समाज का अध्ययन और उसकी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करे और उनसे अपने नतीजे निकाले। वे शिक्षकों के संगठित होने पर जोर देते हुए कहते हैं कि हमारे देश में आज शिक्षकों का संगठन सबसे कमजोर है, इसी कारण शिक्षकों की दशा भी खराब है। वे शिक्षक संगठन को शिक्षकों की आर्थिक तथा बौद्धिक स्थिति को सुधारने का जरिया मानते हैं। लेकिन शिक्षक संगठन के लिए वे यह शर्त लगाते हैं कि वह राज्य तथा राज्य अधिकारियों से कोई संबंध न रखे। शिक्षकों के लिए वे साफ-साफ कहते हैं कि उनका स्थान असामान्य अधिकारों वाले वर्ग में नहीं है। शिक्षकों को अपना संबंध मजदूरों और किसानों के साथ जोड़कर समाज में बौद्धिक और शारीरिक श्रम में जो अप्राकृतिक विभाजन हो गया है उसे मिटाना चाहिए। शिक्षकों की पाठ्यक्रम, शिक्षा प्रबंध और स्कूल व्यवस्था संबंधी स्वतंत्रताओं का पक्ष लेते

हुए श्रीमाली कहते हैं कि जब तक शिक्षक स्वतंत्र नहीं हैं, विद्यार्थियों के लिए स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं है।

पुस्तक के एक अध्याय में पब्लिक स्कूलों की स्थिति पर विचार किया गया है, “जिस जनतंत्र की कल्पना हमारे देश में हम करते हैं क्या उसमें विशेष वर्ग के स्कूल होने चाहिए? जनतंत्र की दृष्टि से यह स्वास्थ्यप्रद नहीं है कि समाज में दो प्रकार की शिक्षण पद्धतियां हों, और यह भेद भी धन के आधार पर हो।” श्रीमाली तर्क देते हैं कि हमारे समाज में शिष्ट जन को यदि आज वे सब विशेष सुविधायें उपलब्ध न होतीं और उसके बालक भी साधारण स्कूलों में पढ़ते तो निःसंदेह शिक्षा में सुधार की मांग अधिक प्रबल होती। आज हमने निम्न वर्ग के लिए जो निन्दनीय शिक्षा पद्धति स्वीकार कर रखी है उसका कारण यही है कि शिष्टवर्ग को इस परिस्थिति की अनुभूति ही नहीं होती।

हालांकि श्रीमाली पब्लिक स्कूलों की शिक्षण-प्रक्रिया को भी बेहतर नहीं मानते; उनका कहना है, पब्लिक स्कूलों को किसी प्रकार भी प्रगतिशील शिक्षा के प्रयोग हम नहीं मान सकते। वहां का वातावरण, वहां का जीवन, वहां का रहन-सहन, सारा बाहरी अनुशासन पर निर्भर है। स्वतंत्र विचार को वहां कम स्थान दिया जाता है, इसका परिणाम यह होता है कि पब्लिक स्कूल से निकले हुए बालकों में वे मानवोचित गुण नहीं होते तो साधारण स्वतंत्र शिक्षा प्राप्त बालकों में पाये जाते हैं। जिन गुणों पर पब्लिक स्कूल जोर देते हैं उनको हम सभ्यता के मापदण्ड से बर्बरता समझेंगे।

वहीं प्रयोगशील स्कूलों की तरफदारी करते हुए श्रीमाली का कहना है, जो स्कूल प्रयोग कर रहे हैं उनको राज्य की तरफ से अधिकाधिक सहायता मिलनी चाहिए तथा उन पर कम से कम नियंत्रण होना चाहिए। साथ ही यह भी कहा है, उनको स्वतंत्रता इसलिए नहीं होनी चाहिए कि वे अपने विशेष अधिकारों को सुरक्षित रख सकें परन्तु इसलिए कि वे शिक्षा में ऐसे प्रयोग कर सकें जिनसे जन साधारण की शिक्षा को लाभ पहुंचे। किन्तु पब्लिक स्कूलों के प्रति लेखक का दृष्टिकोण नकारात्मक है। उनका मानना है कि इनसे जो लड़के निकल कर समाज में जाते हैं उनको अपनी ही संस्कृति के प्रति घृणा होती है।

इससे अगले अध्याय में श्रीमाली ने गैर-सरकारी स्कूलों पर विचार किया है। वे इन स्कूलों को निम्न श्रेणियों में बांटते हैं :

1. धार्मिक संगठनों से संबंधित
2. साम्प्रदायिक
3. निजी
4. वर्ग विशेष के तथा
5. सार्वजनिक। सांप्रदायिक में वे मारवाड़ी तथा बंगाली स्कूल जैसे उदाहरण देते हैं, वर्ग विशेष के स्कूलों में पब्लिक स्कूलों को तथा सार्वजनिक स्कूलों में समुदाय द्वारा सभी बच्चों के लिए संचालित स्कूलों को रखा गया है।

श्रीमाली का अभिमत है कि वे स्कूल जो किसी धर्म, संप्रदाय या वर्ग विशेष तथा व्यक्ति की अभिरुचि के लिए तथा उनके मतों का प्रचार करने के लिए चलाये जाते हैं उन से राज्य का कोई विशेष संबंध नहीं हो सकता; क्योंकि राज्य यदि इनकी सहायता करे तो वह पक्षपात का दोषी होगा। लोकतंत्र में सभी धर्मों तथा संप्रदायों को अपने मत और दृष्टिकोण का प्रचार करने का पूर्ण अधिकार है परन्तु राज्य तो उन्हीं स्कूलों की सहायता कर सकता है जो वास्तव में सार्वजनिक हों तथा जिनके द्वार सभी धर्म, संप्रदाय और वर्गों के लिए खुले हुए हों।

इस प्रश्न पर भी विचार किया गया है कि यदि राज्य राष्ट्रीय शिक्षा का जिम्मा लेता है तो फिर उक्त (स्वतंत्र) स्कूलों की क्या आवश्यकता है। इस प्रसंग में कहा गया है कि यदि ये स्कूल शिक्षा में कोई विशेष प्रयोग या विशेष प्रकार का काम नहीं कर रहे हैं तो इनके अस्तित्व का कोई अर्थ नहीं। शिक्षा में जितने भी सुधार हुए हैं वे स्वतंत्र स्कूलों के प्रयोगों से ही हुए हैं। राज्य की शिक्षा पद्धति में प्रयोग की ज्यादा गुंजाइश नहीं रहती क्योंकि वहां निश्चित पाठ्यक्रम के अनुसार काम होता है और एकरूपता पर ध्यान दिया जाता है। शिक्षा में अंतिम सत्य तक हम कभी नहीं पहुंच सकते। उसमें प्रयोग की सदैव गुंजाइश रहती है और यदि प्रयोग को हम राष्ट्रीय पद्धतियों में कोई स्थान नहीं देते तो हम शिक्षा के और समाज के विकास को रोकते हैं। इसलिए इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि इन प्रयोगात्मक सार्वजनिक (स्वतंत्र) स्कूलों की लोकतंत्र को बड़ी आवश्यकता है।

भारतीय लोकतंत्र को बनाने में स्कूलों की भूमिका को अहम् ठहराते हुए श्रीमाली कहते हैं, इसका तात्पर्य कदापि यह नहीं है कि स्कूल समाज का निर्माण करने की पूरी जिम्मेदारी ले सकता है पर यह अवश्य है कि स्कूल के अन्दर नये मूल्यों के प्रति चेतना जागृत करने के लिए शिक्षक काफी सफल प्रयत्न कर सकता है।

जब तक हम देश में अनिवार्य शिक्षा नहीं कर पाते हैं तब तक देश का लोकतंत्र केवल नाम मात्र ही होगा। लोकतंत्र का सर्वप्रथम सिद्धांत तो यह है कि इस देश के सब बच्चों को एक ही तरह की शिक्षा मिले परन्तु इसका मतलब यह अवश्य है कि प्रत्येक बालक को अपनी बुद्धि और योग्यता के अनुसार शिक्षा द्वारा विकास करने का अवसर मिले। इस संदर्भ में पूर्व की योजनाओं का लेखक ने जिक्र किया है : हमारे देश में अनिवार्य शिक्षा की सार्जेंट योजना 40 वर्ष की थी। बाद में खैर कमेटी ने जो योजना रखी उसके अनुसार सारे देश में 16 वर्ष में अनिवार्य शिक्षा का प्रसार करने की सिफारिश थी।

शिक्षण-विधि की चर्चा करते हुए श्रीमाली कहते हैं, विद्यार्थियों को सामाजिक समस्याओं के गढ़े-गढ़ाये उत्तर हम नहीं दे सकते

वरन हम उनसे यह आशा करते हैं कि समाज की समस्याओं को वे खुद समझने का प्रयत्न करें। हमारी आजकल की पाठ्य-पद्धति लोकतांत्रिक तरीकों के अनुकूल नहीं है। जिन पाठ्यपुस्तकों को हम स्वीकार करते हैं और जो पाठ हम बच्चों को पढ़ाते हैं उनका अधिकांश में बच्चों के जीवन से कोई संबंध नहीं होता। जब तक शिक्षा बच्चों की आवश्यकता और रुचियों के अनुकूल नहीं होती है तब तक शिक्षा एकांगी होती है। लोकतांत्रिक शिक्षा का यह बुनियादी उसूल है कि शिक्षा का कार्य शिक्षक और विद्यार्थी दोनों के मेल से पूरा हो।

शिक्षा के क्षेत्र में जितने भी काम करने वाले लोग हैं - अध्यापक, प्रधानाध्यापक, अन्य शिक्षा के अधिकारी तथा माता-पिता वे सब मिलजुल कर शिक्षा की नीति और कार्यक्रम तय करें। अभी तक जो कार्य शिक्षा में होता है वह एक दूसरे के अधिपत्य में चलता है। स्कूलों में विद्यार्थियों की पंचायतें, पितृसंघ, स्कूल की कमेटियां आदि ऐसे ही तरीके हैं जहां जनता के सभी हितों का प्रतिनिधित्व होता है।

पाठ्यक्रम पर विचार करते हुए श्रीमाली आगे लिखते हैं: "स्कूल के पाठ्यक्रम और समाज के लक्ष्य में पारस्परिक संबंध है। जैसा समाज का लक्ष्य होगा उसी प्रकार का स्कूलों का पाठ्यक्रम होगा" उनका कहना है, जब हम विदेशी राज के अधीन थे तब शिक्षा का पाठ्यक्रम एक विदेशी साम्राज्य को कायम रखने के हेतु बनाया गया था। ... सारा पाठ्यक्रम विदेशी राज्य को स्थिर रखने का केवल एक साधन मात्र था। उस समय स्कूलों में केवल लिखना पढ़ना काफी समझा जाता था। नये युग की आवश्यकता है कि हमको प्राकृतिक और सामाजिक शास्त्रों का समुचित ज्ञान हो। हम अधिक से अधिक ऐसी शिक्षा ग्रहण करें कि जिसमें ज्ञान, कौशल, सृजन तथा नैतिक गुणों का समावेश हो।

पुस्तक के अंत में, अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य के संदर्भ में शिक्षा पर विचार करते हुए कहा गया है, भारतीय नागरिक शिक्षा और व्यक्ति को विश्व निर्माण के रचनात्मक कार्यक्रम में भाग लेने योग्य बनाने वाली शिक्षा में कोई संघर्ष नहीं होना चाहिए, यदि हम यह भली प्रकार समझ लें कि भारत एक स्वतंत्र राष्ट्र है और साथ ही साथ वह उस विश्व कुटुम्ब का भी एक सदस्य है जिसका कि दूसरा नाम संयुक्त राष्ट्र संघ है। देश की विविधता के संदर्भ में मान्यता रखी गयी है कि हमको व्यक्ति की वास्तविकता का सम्मान करना चाहिए और साथ ही व्यक्तियों की भिन्नताओं और विशेषताओं को भी समझना चाहिए। साथ ही यह भी कहा गया है कि भारत में अन्तर्राष्ट्रीय शिक्षा की समस्या को तब तक हाथ में लेना संभव नहीं जब तक इसकी 88 प्रतिशत जनता शिक्षित न हो जाये। ◆